दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष सातवाँ
अंक सातवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

कार्तिक
2477

'धन्य वह जन्म'

जन्मरहित होने के लिये जो जन्म हुआ वह जन्म सफल है!

जिस जीव का एक-एक क्षण आत्मार्थ के हेतु व्यतीत हो रहा हो, जिसका एक-एक क्षण संसार को छेदने के लिये छैनी का काम कर रहा हो, जिसका एक-एक क्षण आत्मा को सिद्धत्व के निकट ले जा रहा हो उस जीव को धन्य है.... वह जीवन कृतकृत्य है।

अहो! संत ऐसा कृतकृत्य जीवन जीते हैं!

— ऐसा कृतकृत्य जीवन संत की शरण बिना नहीं हो पाता। जिन परम संतों की शरण में ऐसी जीवनरचना होती है, वे संत जयवंत हों.... उन्हें परम भक्ति से नमस्कार हो!

[समयसार-प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

79

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

1- उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव
2- अग्नि और आत्मा
3- आत्मार्थी का पहला कर्तव्य—5
— भूतार्थस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन
4- शुद्ध चैतन्य की उपासना का उपाय—साम्यभाव
5- तीर्थंकरों के कुल की टेक
6- भोगी नहीं किंतु योगी : धन्य... यह...अवतार!
7- संसार की स्थिति और धर्मात्मा की नि:शंकता
8- जिनेश्वर के लघुनंदन की श्रद्धा कैसी होती है?

ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा

संवत 2007 में परम उपकारी पूज्य श्री कानजीस्वामी के निकट आजीवन ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा ग्रहण करनेवाले मुमुक्षुओं को धन्यवाद!

1— श्री बृजलाल गिरधरलाल बालब्रह्मचारी वढ़वाण शहर निवासी
2— श्री पानाचंद भाईलाल बालब्रह्मचारी सोनगढ़
3— शा. छोटालाल डामरदास तथा उनकी धर्मपत्नी ध्रांगध्रा निवासी
4— शा. प्राणलाल रामजीभाई तथा उनकी धर्मपत्नी अमरेली निवासी
5— शा. मणीलाल बालजी तथा उनकी धर्मपत्नी वींछिया निवासी
6— शा. चिमनलाल भाईलाल तथा उनकी धर्मपत्नी बरवाला, निवासी
7— शा. अमृतलाल बावलभाई तथा उनकी धर्मपत्नी वींछिया निवासी
8— शा. अमृतलाल हंसराज तथा उनकी धर्मपत्नी इंदौर निवासी
9— श्री शांतिलाल गिरधरलाल तथा उनकी धर्मपत्नी सोनगढ़
10— श्री हिम्मतलाल छोटालाल झोबालिया, सोनगढ़

आत्मधर्म

कार्तिक 2477 ★ वर्ष सातवाँ ★ अंक सातवाँ

उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव

मगसिर कृष्णा 13 गुरुवार के दिन
प्रवचनसार गाथा 100 पर
पूज्य गुरुदेव का
प्रवचन

99वीं गाथा में वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव को अलौकिक रीति से सिद्ध किया। अब, वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक-दूसरे के बिना नहीं होते, किन्तु तीनों एक ही साथ होते हैं - इस बात को 100वीं गाथा में दृढ़ करते हैं।

ण भवो भंगविहीणो, भंगो वा णत्थि संभवविहीणो,
उप्पादो वि य भंगो, ण विणा धोव्वेण अत्थेण॥100॥

उत्पाद भंग बिना नहिं, संहार सर्ग विना नहिं,
'उत्पाद तेम ज भंग, ध्रौव्य-पदार्थ विण वर्ते नहि॥100॥

उत्पाद भंग के बिना नहीं होता, भंग उत्पाद बिना नहीं होता और उत्पाद तथा भंग - यह दोनों ध्रुव पदार्थ के बिना नहीं होते। वस्तु के समय-समय के परिणाम में उत्पाद-व्यय-ध्रुव की यह बात है। आत्मा में सम्यक्त्व का उत्पाद, मिथ्यात्व के व्यय बिना नहीं होता, मिथ्यात्व का नाश सम्यक्त्व के उत्पाद के बिना नहीं होता और सम्यक्त्व का उत्पाद तथा मिथ्यात्व का व्यय - यह दोनों, आत्मा की ध्रुवता के बिना नहीं होते। आत्मवस्तु में सम्यक्त्व का उत्पाद, मिथ्यात्व का व्यय और अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा से आत्मा की ध्रुवता है, इसप्रकार प्रत्येक वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रुव - तीनों साथ ही होते हैं।

आत्मा में सच्ची समझ का उत्पाद ही और भ्रमणा का व्यय न हो – ऐसा नहीं होता। स्वभाव की यथार्थ समझ इस समय हो और भ्रम फिर कभी दूर हो – ऐसा नहीं होता। स्वभाव की रुचि हो और पर की रुचि न टले – ऐसा नहीं हो सकता। मिथ्यात्व का व्यय हुए बिना सम्यक्त्व का उत्पाद नहीं होता। संसारदशा का नाश हुए बिना सिद्धदशा का उत्पाद नहीं होता। सिद्धदशा का उत्पाद–संसारदशा के व्ययरूप है। स्वभाव की रुचि का उत्पाद होने से पुण्य–पाप की रुचि का व्यय होता है, इसलिए जो सम्यक्रुचि का उत्पाद है और मिथ्यारुचि का व्यय है और समस्त परिणामों के समय द्रव्य–अपेक्षा से ध्रुवता है। इसप्रकार वस्तु में प्रतिसमय उत्पाद–व्यय–ध्रुव एकसाथ ही होते हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रुव एक दूसरे के बिना नहीं होते।

द्रव्य के जिन परिणामों में सम्यक्त्व का उत्पाद है, उन्हीं में मिथ्यात्व का व्यय है। सम्यक्–श्रद्धारूप से द्रव्य का जो उत्पाद है, वही मिथ्यात्वरूप से विनाश है; इसप्रकार जो उत्पाद है, वही व्यय है। जिस समय जो परिणाम उत्पादरूप है, उस समय तो वह उत्पादरूप ही है, वह स्वयं कहीं व्ययरूप नहीं है, किन्तु पूर्व परिणामों की अपेक्षा से वह व्ययरूप है। एक ही अपेक्षा से एक परिणाम में उत्पाद–व्यय नहीं कहलाते। वर्तमान परिणाम की अपेक्षा से द्रव्य का जो उत्पाद है, वही पूर्ण परिणाम की अपेक्षा से उसका व्यय है और द्रव्यपने की अपेक्षा से वह द्रव्य ध्रुव है – इसप्रकार, द्रव्य के उत्पाद–व्यय और ध्रुव तीनों भिन्न–भिन्न नहीं हैं किन्तु अविनाभावी हैं।

यहाँ उत्पाद–व्यय–ध्रुव तीनों का अविनाभावीपना कहकर द्रव्य अपेक्षा से एकता बतलाते हैं और 102वीं गाथा में उत्पाद–व्यय–ध्रुव का समय भेद नहीं है – ऐसा कहकर काल अपेक्षा से उनकी एकता बतलायेंगे। यहाँ कहते हैं कि जो उत्पाद है, वही व्यय है और जो उत्पाद–व्यय है, वही स्थिति है। गाथा 102 में कहेंगे कि जिस क्षण उत्तर पर्याय का उत्पाद है, उसी क्षण पूर्व पर्याय का व्यय है और उसी क्षण द्रव्यपने की ध्रुवता है।

परिणाम परिणामी के हैं। परिणामी को देखे बिना परिणाम को नहीं देखा जाता। परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रुव को देखनेवाले की दृष्टि परिणामी द्रव्य पर जाती है और द्रव्यदृष्टि में वीतरागी तात्पर्य सिद्ध हो जाता है।

प्रत्येक पदार्थ सत् है, वह पदार्थ स्वयं अपने उत्पाद–व्यय–ध्रुव को करता है, दूसरा कोई पदार्थ उसके उत्पाद–व्यय–ध्रुव को नहीं करता। कुम्हार घड़े की उत्पत्ति करे, यह तो बात ही नहीं

है, क्योंकि घड़ा मिट्टी का उत्पाद है, उसमें मिट्टी वर्तती है, कहीं कुम्हार उसमें नहीं वर्तता, कुम्हार का उत्पाद-व्यय-ध्रुव कुम्हार में है और घड़ा आदि का उत्पाद-व्यय-ध्रुव मिट्टी में है। घड़े की रचनारूप से कौन उत्पन्न हुआ ? मिट्टी या कुम्हार ? घड़े की रचनारूप मिट्टी ही उत्पन्न हुई है, कुम्हार कहीं घड़े की रचनारूप उत्पन्न नहीं हुआ। 'कुम्हार न हो तो घड़ा नहीं हो सकता' - इसप्रकार यहाँ कुम्हार और घड़े का अविनाभावीपना नहीं लिया है, क्योंकि वह दोनों तो स्वतंत्र सत् हैं। यहाँ तो, मिट्टी में घड़े की उत्पत्ति पिण्ड के व्यय बिना नहीं होती - ऐसा कहकर सत् में उत्पाद-व्यय-ध्रुव का अविनाभावीपना बतलाते हैं। इसप्रकार जगत के समस्त सत् पदार्थों में अपने उत्पाद, व्यय और ध्रुव एक-दूसरे के बिना नहीं होते, परन्तु पर के साथ उन्हें कोई संबंध नहीं है।

यह तो समय-समय के उत्पाद-व्यय-ध्रुव की सूक्ष्म बात है। वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभाव को समझने से अपने को परसन्मुख देखना नहीं रहता, स्वयं अपने परिणाम को देखने से ज्ञान अंतर में परिणामी स्वभाव की ओर उन्मुख होता है, और उस परिणामी ध्रुव द्रव्य के आश्रय से वीतरागी परिणामों का प्रवाह चलता रहता है।

प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही सत् है, इसलिए अपने स्वभाव से ही वह उत्पाद-व्यय-ध्रुववाला है - ऐसा निश्चित किया, वहाँ एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ नहीं कर सकता - यह बात भी आ गई। आत्मा दूसरे का कुछ नहीं कर सकता - ऐसा समझते ही दूसरे के सन्मुख देखना नहीं रहता, किन्तु अपने द्रव्यसन्मुख देखना आता है। परसन्मुख देखकर 'मैं पर का नहीं कर सकता' - ऐसा यथार्थ नहीं माना जा सकता, किन्तु पर की सन्मुखता से हटकर अपनी ओर ढले, तभी 'पर का मैं नहीं कर सकता' - ऐसा वास्तव में माना कहलाता है। 'पर का मैं नहीं कर सकता और मेरे परिणामों को पर नहीं करता, तो मेरे परिणामों को कौन करता है ? कहाँ से परिणाम आते हैं ? ऐसा निश्चित करने से अंतर में जहाँ से परिणाम आते हैं, ऐसे ध्रुव सन्मुख देखना रहा। इसलिए, अपने परिणाम अपने से ही होते हैं - ऐसा माननेवाले की दृष्टि ध्रुवद्रव्य पर पड़ी है। ध्रुव सन्मुख देखते ही सम्यक्पर्याय का उत्पाद होता है और वह उत्पाद मिथ्यात्वपर्याय के व्यय -स्वरूप है। यदि ध्रुवसन्मुख न देखे तो मिथ्या पर्याय का उत्पाद होता है। वस्तुस्वभाव समझने से ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से सम्यक् वीतरागी पर्यायों का उत्पाद हो, वही तात्पर्य है।

☆ ☆ ☆

प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है। यदि उन उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों को एक ही साथ न माने तो वस्तु ही सिद्ध नहीं होती। वस्तु के अपने उत्पाद-व्यय और ध्रुव एक-दूसरे के बिना नहीं होते, किन्तु परवस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रुव के साथ उन्हें कोई संबंध नहीं है। ऐसा समझे तो पर के साथ के कर्तृत्व की मान्यता छूट जाये और अपने प्रतिसमय के परिणामों की स्वतंत्रता माने और प्रतिसमय के परिणाम, परिणामी द्रव्य में से आते हैं; इसलिए परिणामी द्रव्य पर दृष्टि जाने से सम्यक्त्व का उत्पाद तथा मिथ्यात्व का व्यय हो जाता है, वह धर्म है। इसप्रकार धर्म की यह बात चल रही है।

- उत्पाद, व्यय के बिना नहीं होता,
- व्यय, उत्पाद के बिना नहीं होता,
- उत्पाद और व्यय, ध्रुव के बिना नहीं होते
- ध्रुव, उत्पाद और व्यय के बिना नहीं होता,
- जो उत्पाद है, वही व्यय है,
- जो व्यय है, वही उत्पाद है,
- जो उत्पाद और व्यय है, वही ध्रुव है
- जो ध्रुव है, वही उत्पाद और व्यय है।

—इसप्रकार वस्तु में उत्पाद, व्यय और ध्रुव - तीनों एकसाथ ही होते हैं। किसप्रकार ? वह बतलाने के लिए यहाँ मिट्टी का दृष्टान्त देते हैं।

मिट्टी मैं जो घड़े का उत्पाद है, वही पूर्व की पिण्डदशा का व्यय है; जो पिण्ड का व्यय है, वही घड़े का उत्पाद है; जो घड़े का उत्पाद और पिण्ड का व्यय है, वही मिट्टी की ध्रुवता है और जो मिट्टी की ध्रुवता है, वही घड़े का उत्पाद और पिण्ड का व्यय है। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद-व्यय और ध्रुव एकसाथ ही वर्त रहे हैं।

☆ ☆ ☆

यहाँ आचार्यदेव यह बात विस्तार से समझाते हैं।

1. जो उत्पाद है, वही व्यय है

मिट्टी में घट अवस्था का जो उत्पाद है, वही पिण्ड अवस्था का व्यय है, क्योंकि भाव का भावान्तर के अभावस्वभाव से अवभासन है। भाव का अर्थात् वर्तमान उत्पाद का भावान्तर के अर्थात् पूर्व पर्याय के अभावस्वभाव से अर्थात् व्ययरूप से अवभासन होता है–ज्ञात होता है। एक भाव की उत्पत्ति हुई, वह उसमें पूर्व के भाव का नाश होकर होती है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि वर्तमान पर्याय का उत्पाद उस वर्तमान पर्याय के ही व्ययरूप नहीं है, किन्तु वर्तमान पर्याय का उत्पाद, उस पूर्व पर्याय के व्ययरूप है। मोक्षभाव का उत्पाद हुआ, वह संसारभाव के अभावस्वरूप है। सम्यग्ज्ञानरूप भाव प्रगट हुआ, वह अज्ञानभाव के अभावस्वरूप है, ज्ञान पर्याय का उत्पाद हो और उसमें पूर्व की अज्ञान पर्याय भी रहे – ऐसा कभी नहीं बनता। प्रत्येक परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रुवस्वरूप है।

इसप्रकार प्रत्येक समय के प्रत्येक परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रुव की स्वतंत्रता को समझे तो, समय–समय के परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रुव का आधार जो द्रव्य है, उस द्रव्य पर रुचि जाती है, उसकी यह बात है।

कोई मनुष्य ऐसा कहे कि 'अमुक मनुष्य पहले मेरा कहना नहीं मानता था और अब मानता है।' तो वहाँ उस मनुष्य में मानने की पर्याय का भाव हुआ, उसमें 'न मानने के भाव' का अभाव हुआ और मनुष्यरूप से वह ध्रुव रहा। इसप्रकार वस्तु में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य तीनों एक–दूसरे के साथ ही होते हैं।

एक पदार्थ के उत्पाद–व्यय के कारण दूसरे पदार्थ की पर्याय के उत्पाद–व्यय होते हैं – ऐसा नहीं है। पुद्गल में मिथ्यात्वकर्म का व्यय हुआ, इसलिए यहाँ जीव की पर्याय में मिथ्यात्व दूर हुआ – ऐसा नहीं है। किन्तु अपनी पर्याय में सम्यक्त्व का उत्पाद मिथ्यात्व के व्यय बिना नहीं होता। एक साथ दो अवस्थाएँ नहीं रहतीं किन्तु दूसरी अवस्था होने पर पहली अवस्था का अभाव हो जाता है। सिद्ध पर्याय हो और संसार पर्याय भी रहे, ऐसा नहीं हो सकता, किन्तु सिद्ध पर्याय होने से संसार पर्याय का उसी क्षण नाश हो जाता है। वीतराग पर्याय हो और राग पर्याय भी बनी रहे, ऐसा कभी नहीं हो सकता; वीतराग पर्याय में राग पर्याय का अभाव है।

कोई कहे कि – 'कुछ राग और कुछ वीतरागता' – ऐसा तो साधक के होता है ? उसका

समाधान – वहाँ उत्पादरूप पर्याय एक ही है और उस पर्याय में पूर्व की पर्याय का अभाव है। अकेली राग पर्याय को लिया जावे तो उस रागपर्याय में भी इससे पूर्व के राग का तो अभाव ही है। जो नवीन पर्याय उत्पन्न हुई, वह पूर्व पर्याय का व्यय होकर हुई है, यानि वर्तमान पर्याय का उत्पाद पूर्व पर्याय के व्ययस्वरूप है।

स्वभाव की रुचि उत्पन्न होने से विभाव की रुचि दूर हो ही जाती है। इसप्रकार दूसरे भाव का उत्पाद, पहले भाव के व्यय बिना नहीं होता। स्वभाव की सम्यक् रुचि के उत्पाद के समय उसके साथ विकार की रुचि का उत्पाद भी साथ में नहीं हो सकता। रुचि तो सम्यक्त्व गुण की पर्याय है और आसक्ति का राग तो चारित्रगुण की पर्याय है, इसप्रकार गुणभेद है और प्रत्येक गुण का उत्पाद स्वतंत्र है, इसलिए परिणाम के उत्पाद में स्वभाव की रुचि और आसक्ति का राग – यह दोनों तो साधक को एकसाथ हो सकते हैं, किन्तु सम्यक्रुचि और मिथ्यारुचि – ऐसी एक ही गुण की दो पर्यायें एकसाथ उत्पादरूप नहीं होतीं। किन्तु एक का व्यय होकर दूसरी पर्याय का उत्पाद होता है। सम्यक्त्व गुण की पर्याय में सम्यक् रुचि और विपरीत रुचि – इन दोनों का उत्पाद एक ही साथ नहीं होता, किन्तु विपरीतरुचि के व्ययपूर्वक सम्यक्रुचि का उत्पाद होता है। इसप्रकार एक का उत्पाद, वह दूसरे का (पूर्व का) व्यय है। मिट्टी में घड़ारूपी अवस्था की जो उत्पत्ति है, वही पिण्डरूप अवस्था का विनाश है। घड़े की उत्पत्ति और पिण्ड का विनाश – यह दोनों भिन्न-भिन्न नहीं हैं। इसलिए पीछे की पर्याय का जो उत्पाद है, वह पूर्व की पर्याय के व्ययस्वरूप ही है।

इसप्रकार उत्पाद के साथ व्यय का अविनाभावीपना बतला कर पहला बोल कहा।

अब, दूसरे बोल में, व्यय के साथ उत्पाद का अविनाभावीपना बतलाते हैं।

2. जो व्यय है, वही उत्पाद है

व्यय, उत्पाद बिना नहीं होता। पूर्व की पर्याय का व्यय नवीन पर्याय के उत्पादरहित नहीं होता। पहली पर्याय का व्यय, दूसरी पर्याय के उत्पादस्वरूप है। मिट्टी के पिण्ड का जो व्यय है, वही घड़े का उत्पाद है। कोई कहे कि 'आत्मा में से अज्ञान का नाश तो हुआ है किन्तु अभी सच्चा ज्ञान प्रगट नहीं हुआ।' तो उसकी यह बात मिथ्या है, उसने वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभाव को नहीं जाना है।

इस उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव के निर्णय में तो समय-समय की स्वतंत्रता का ज्ञान है। यहाँ घड़ा होने की बात में कुम्हार को तो याद भी नहीं किया है, क्योंकि यहाँ वस्तुस्वभाव की बात है, इसलिए घड़ा मिट्टी के उत्पादस्वभाव से होता है, यही बात ली है। इसप्रकार उपादान की स्वतंत्रता को जाने, तभी संयोगरूप निमित्त को जान सकेगा।

यदि अपने को देखने की आँख खुले तो फिर दूसरों को देख सकें, उसीप्रकार यदि उपादान को पहिचाने, तभी निमित्त को पहिचाने। स्व-परप्रकाशक ज्ञान हो, तभी वह पर को जान सकता है। स्वभाव को जाने, तभी संयोग को जान सकता है। द्रव्य की ओर ढले, तभी पर्याय को जान सकता है। निश्चय को जाने, तभी व्यवहार का सच्चा ज्ञान हो।

एक सिद्धान्त में इन सभी बोलों का समावेश हो जाता है।

पहले बोल में उत्पाद, व्यय बिना नहीं होता – ऐसा कहा।

दूसरे बोल में व्यय, उत्पाद बिना नहीं होता – ऐसा कहा।

मिथ्याश्रद्धा का नाश हुआ है, किन्तु अभी नि:शंकता नहीं हुई है, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि मिथ्याश्रद्धा का नाश नि:शंकता की उत्पत्ति बिना नहीं होता। जिस क्षण पर की रुचि गई, उसी क्षण स्व की रुचि हुई। अल्पज्ञता का अभाव, सर्वज्ञता के उत्पादरूप है। इसप्रकार एक का व्यय दूसरे के उत्पादसहित ही होता है। नास्ति अपेक्षा से मिथ्यात्व का व्यय और अस्ति अपेक्षा से सम्यक्त्व की उत्पत्ति, एक की नास्ति हुई, वह दूसरे भाव की अस्ति बतलाती है। मिट्टी में पिण्ड अवस्था दूर हुई और तत्पश्चात् घटरूप अवस्था हुई, इन दोनों के बीच भेद नहीं है, एक भाव का अभाव, वह उसके पीछे के भाव की उत्पत्तिवाला है। दूसरे भाव की उत्पत्ति रहित विनाश नहीं होता। इसलिए, कर्म का नाश हो तो मिथ्यात्वभाव दूर हो – ऐसा कर्म सन्मुख देखना नहीं रहा, किन्तु अपनी पर्याय में सम्यक्त्व के उत्पाद बिना मिथ्यात्व का व्यय नहीं है, इसलिए अपने परिणाम में देखना आया।

उत्पाद, व्यय के बिना नहीं होता और व्यय, उत्पाद के बिना नहीं होता। पीछे के भाव का जो उत्पाद है, वह पूर्व के भाव का विनाश है और पूर्व के भाव का जो विनाश है, वही पीछे के भाव का उत्पाद है – इसप्रकार दो प्रकार से उत्पाद-व्यय का अविनाभावीपना बतलाया। अब, उत्पाद-व्यय के साथ ध्रुव का अविनाभावीपना बतलाते हैं।

3. जो उत्पाद और व्यय है, वही ध्रुव है

मिट्टी में पिण्ड का व्यय और घड़े की उत्पत्ति होती है, वही मिट्टी की स्थिति है, क्योंकि व्यतिरेकों के द्वारा ही अन्वय प्रकाशित होता है। व्यतिरेक अर्थात् उत्पाद-व्यय और अन्वय अर्थात् ध्रुव। पिण्ड के व्यय से और घड़े के उत्पाद से मिट्टी का सदृश अस्तित्व ज्ञात होता है। पिण्ड अवस्था मिटकर घड़ा हुआ किन्तु मिट्टी दिखाई नहीं देती - ऐसा नहीं हो सकता। मिट्टी की ध्रुवता बिना घड़े की उत्पत्ति और पिण्ड का व्यय काहे में होगा ? ध्रुवता के बिना उत्पाद-व्यय नहीं हो सकते।

यहाँ तो कहा है कि उत्पाद-व्यय द्वारा उस पदार्थ की ध्रुवता प्रकाशित होती है। घड़े के उत्पाद द्वारा मिट्टी की ध्रुवता प्रकाशित होती है, किन्तु घड़े के उत्पाद द्वारा 'कुम्हार ने घड़ा किया' - ऐसा प्रकाशित नहीं होता। पुद्गल में कर्म अवस्था का व्यय और दूसरी अवस्था का उत्पाद हो, उसके द्वारा पुद्गल परमाणु की ध्रुवता ज्ञात होती है, उसके द्वारा आत्मा का भाव ज्ञात नहीं होता। आत्मा में मिथ्यात्व का व्यय और सम्यक्त्व का उत्पाद हुआ, उसके द्वारा आत्मा की ध्रुवता ज्ञात होती है, किन्तु कर्म का नाश हुआ, उसके द्वारा आत्मा की ध्रुवता ज्ञात नहीं होती। प्रत्येक वस्तु में अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव एक ही साथ होते हैं। यह समझ ले तो पदार्थ का भेदज्ञान हो जाता है और कहीं पर में उल्टा-सीधा करने का मिथ्याभिमान दूर हो जाता है।

वस्तु में उत्पाद, व्यय और ध्रुव तीनों एक ही साथ हैं, पूर्व पर्याय से व्ययरूप, वर्तमान पर्याय से उत्पादरूप और पूर्व-पश्चात् के अखण्डप्रवाह में द्रव्यपने को ध्रुवता है। उत्पाद और व्यय दोनों का समय भिन्न नहीं है, किन्तु एक का व्यय, वह दूसरे का उत्पाद है - इसप्रकार उनमें व्यतिरेकपना है और उन व्यतिरेकों में अन्वयरूप से स्थित द्रव्य ध्रुव है। 'यह वही है' ऐसा ध्रुवपना उत्पाद-व्यय द्वारा ज्ञात होता है।

तीन प्रकार कहे - अब चौथे प्रकार में ध्रुव के साथ उत्पाद-व्यय का अविनाभावी बतलाते हैं।

4. जो ध्रुव (स्थिति) है, वही उत्पाद और व्यय है

मिट्टी की जो ध्रुवता है, वही घड़े का उत्पाद और पिण्ड का व्यय है, क्योंकि ध्रुव को छोड़कर उत्पाद-व्यय नहीं होते। ध्रुव उत्पाद-व्यय रहित नहीं होता। जहाँ ध्रुवता हो, वहाँ एक

पर्याय का उत्पाद और पूर्व पर्याय का व्यय होता है। ध्रुव वस्तु है, किन्तु कोई अवस्था नहीं है – ऐसा नहीं हो सकता। ध्रुवस्थायी वस्तु में किसी नवीन अवस्था का उत्पाद और पुरानी अवस्था का व्यय होता ही है। उत्पाद-व्यय के बिना अकेला ध्रुव नहीं होता। ध्रुव को छोड़कर ध्रुव से पृथक् मात्र उत्पाद-व्यय नहीं होते। द्रव्य की ध्रुवता रहकर उत्पाद-व्यय होते हैं।

इसप्रकार उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीनों एक साथ ही हैं। यदि ऐसा न माना जाये और उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों को एक-दूसरे के बिना भिन्न-भिन्न ही माना जाये तो उसमें दोष आता है। क्या दोष आता है ? वह फिर बतलायेंगे।

अग्नि और आत्मा

अग्नि में पाचक, प्रकाशक और दाहक – ऐसे तीन गुण हैं, उसीप्रकार आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र – ऐसे तीन गुण हैं। जिसप्रकार अग्नि पाचक गुण द्वारा अनाज को पकाती है, उसीप्रकार आत्मा अपने श्रद्धागुण द्वारा अपने सम्पूर्ण शुद्धस्वभाव को पचाता है, स्वीकार करता है। जिसप्रकार अग्नि अपने प्रकाश गुण द्वारा स्व-पर को प्रकाशित करती है, उसीप्रकार आत्मा अपने ज्ञान गुण द्वारा स्व-पर का प्रकाशक है – स्व-पर को जानता है। और जिसप्रकार अग्नि अपने दाहकगुण द्वारा दाह्य को जलाती है, उसीप्रकार आत्मा अपने चारित्रगुण द्वारा विकारी भावों का सर्वथा नाश करता है। इसप्रकार अग्नि के दृष्टान्त से आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रस्वभाव को समझना चाहिए। सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान और अंतरचारित्र की एकता से ही धर्म है।

[- समयसार प्रवचन से]

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य—5

भूतार्थस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन

(वीर संवत् 2476, भाद्रपद शुक्ला 2 मंगलवार)

नव तत्त्वों का यथार्थ वर्णन जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता, उन नवतत्त्वों को पहिचानना, सो जैनदर्शन की श्रद्धा का व्यवहार है। नवों तत्त्व स्वतंत्र हैं। आत्मा की अवस्था में पृथक्-पृथक् नवतत्त्वों की श्रद्धा न हो, तबतक एकरूप आत्मा की श्रद्धा नहीं होती, और यदि नवतत्त्व की पृथक्-पृथक् श्रद्धा के राग की रुचि में अटके तो भी एकरूप आत्मा की श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) नहीं होती।

नवतत्त्वों को कब जाना कहलाता है ? जीव को जीव जाने, उसमें दूसरे को न मिलाए, जीव शरीर की क्रिया करता है, ऐसा न माने; अजीव को अजीव जाने, शरीरादि अजीव हैं, जीव के कारण उस अजीव का अस्तित्व न माने; पुण्य को पुण्यरूप से जाने, पुण्य से धर्म न माने और जड़ की क्रिया से पुण्य न माने; पाप को पापरूप जाने, वह पाप बाह्य क्रिया से होता है – ऐसा न माने; आस्रव का आस्रवरूप से जाने, उन्हें संवर का कारण न माने और पाप बुरा, पुण्य अच्छा – ऐसा भेद परमार्थ से न माने तथा संवरतत्त्व को संवररूप जाने, संवर वह धर्म है, पुण्य से या शरीर की क्रिया से वह संवर नहीं होता किन्तु आत्मस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान, स्थिरता से ही संवर होता है; निर्जरा अर्थात् शुद्धता की वृद्धि और अशुद्धता का नाश, वह निर्जरा बाह्य क्रियाकाण्ड से नहीं होती, किन्तु आत्मा में एकाग्रता से होती है; बंधतत्त्व को बंधतत्त्वरूप से जाने, विकार में आत्मा की पर्याय अटके, वह भावबंधन है, 'वास्तव में कर्म आत्मा को बांधते हैं और उसे परिभ्रमण कराते हैं' – ऐसा न माने किन्तु जीव अपने विकारभाव से बंध और उसी से भटक रहा है – ऐसा समझे। नववां मोक्षतत्त्व है, आत्मा की बिलकुल निर्मलदशा सो मोक्ष है – ऐसा जाने। इसप्रकार जाने तब तो नवतत्त्वों को जाना कहलाये। यह नवतत्त्व हैं, सो अभूतार्थनय का विषय हैं, अवस्थादृष्टि में नव भेद हैं, उनकी प्रतीति करना, सो व्यवहारश्रद्धा है, उससे धर्म की उत्पत्ति नहीं है किन्तु पुण्य की उत्पत्ति है। इन नवतत्त्वों की पहिचान में, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र कौन और मिथ्या देव-गुरु-शास्त्र कौन – उनकी पहिचान भी आ जाती है। यह नवतत्त्वों की श्रद्धा परमार्थ सम्यग्दर्शन नहीं है।

नवतत्त्वों को जान लेने के पश्चात् परमार्थ सम्यग्दर्शन कब होता है, यह बात आचार्यदेव इस गाथा में कहते हैं।

'उन नवतत्त्वों में एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनय से एकत्व प्राप्त करके, शुद्धनय से स्थापित आत्मा की अनुभूति कि जिसका लक्षण आत्मख्याति है, उसकी प्राप्ति होती है।' इसमें परमार्थ सम्यग्दर्शन की बात है। व्यवहारश्रद्धा में नवतत्त्व की प्रसिद्धि है। किन्तु परमार्थश्रद्धा में तो मात्र भगवान आत्मा की ही प्रसिद्धि है। नवतत्त्व के विकल्प से पार होकर एकरूप ज्ञायकमूर्ति का अनुभव करे, उसने भूतार्थनय से नवतत्त्वों को जाना कहलाये और वही नियम से सम्यग्दर्शन है। ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना किसी प्रकार जीव के भवभ्रमण का अंत नहीं आता।

जीव और अजीव मूलतत्त्व हैं और शेष सात तत्त्व उनके निमित्त से उत्पन्न हुई पर्यायें हैं, इसप्रकार कुल नवतत्त्व हैं, वे अभूतार्थनय से हैं। भूतार्थनय से उनमें एकत्व प्रगट करने से ही सम्यग्दर्शन होता है। नवतत्त्वों को सम्यग्दर्शन का विषय कहना, वह व्यवहार का कथन है। वास्तव में सम्यग्दर्शन का विषय भेदरूप नहीं है, किन्तु अभेदरूप ज्ञायक आत्मा ही है। मोक्षशास्त्र में 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' कहा है, वहाँ भी वास्तव में तो नव का लक्ष छोड़कर एक चैतन्यतत्त्व की ओर उन्मुख हुआ, तभी सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान कहा जाता है। अखण्ड चैतन्यवस्तु का आश्रय करने से भूतार्थनय से एकत्व प्राप्त होता है। जिसमें निमित्त की अपेक्षा नहीं है और भेद का विकल्प नहीं है, ऐसे त्रिकाल शुद्धस्वभाव की ओर उन्मुख होकर अनुभव करने से चैतन्य का एकत्व प्राप्त होता है और उस अनुभव में भगवान आत्मा की प्रसिद्धि होती है, वह सम्यग्दर्शन है। इसके अतिरिक्त देव-गुरु आदि निमित्त से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता, दया-पूजा के भावरूप पुण्य से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। नवतत्त्व को बराबर माने, वह भी अभी तो पुण्य है। जड़ शरीर की क्रिया से आत्मा को धर्म होता है - ऐसा जो माने, उसे तो जीव और अजीवतत्त्व की पृथक्-पृथक् श्रद्धा भी नहीं है। 'भगवान की प्रतिमा के कारण पुण्य होता है अथवा पर जीव बचा, इसलिए पुण्य हुआ और पर जीव मरा, इसलिए पाप हुआ अथवा तो शुभभाव आत्मा को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में सहायक होगा' - ऐसी समस्त मान्यताएँ मिथ्या हैं, ऐसी मान्यतावाले को तो नवतत्त्व में से पुण्यतत्त्व की भी खबर नहीं है। उसे शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं होता। प्रथम सत्समागम से श्रवण-मनन करके नवतत्त्वों को अभूतार्थनय से जाने, तत्पश्चात् उसमें भूतार्थनय से एकत्व प्राप्त

कर सकता है और तभी सम्यग्दर्शन होता है। भेद के लक्ष से नवतत्त्व की पृथक्-पृथक् श्रद्धा करने में अनेकत्व है, वह परमार्थ सम्यग्दर्शन नहीं है। नवतत्त्व व्यवहारनय का विषय है, उस व्यवहारनय के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। ऐसा लक्ष में लेकर जिसने नवतत्त्वों का ज्ञान करने में भी चैतन्य की रुचि की है, उसको पश्चात् नवतत्त्व के विकल्परहित होकर अभेद आत्मा की प्रतीति करने से निश्चय सम्यग्दर्शन होता है। ऐसा निश्चय सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान से ही होता है, और वहीं से अपूर्व आत्मधर्म का प्रारम्भ होता है। ऐसे निश्चय सम्यग्दर्शन के बिना चौथा गुणस्थान या धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

यह समझने के लिए सत्समागम से अभ्यास करना चाहिए। प्रथम संसार की तीव्र लोलुपता को कम करके, सत्समागम का समय निकाल कर आत्मस्वभाव का श्रवण-मनन और रुचि किये बिना अंतरोन्मुख कैसे हो ?

प्रथम नवतत्त्वों का निर्णय किया, उसमें भी जीव तो आ ही जाता है, किन्तु उसमें विकल्प सहित था, इसलिए वह जीवतत्त्व अभूतार्थनय का विषय था और यहाँ सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए भूतार्थनय से विकल्परहित होकर एक अभेद आत्मा की श्रद्धा करने की बात है। भूतार्थनय के अवलम्बन से शुद्ध आत्मा को लक्ष में लिये बिना व्यवहारनय के अवलम्बन में चैतन्य का एकत्व प्रगट करने की शक्ति नहीं है।

अभूतार्थनय से देखने पर नवतत्त्व दिखाई देते हैं, किन्तु भूतार्थनय से तो एक आत्मा ही शुद्ध ज्ञायकरूप से प्रकाशमान है; शुद्धनय से स्थापित एक आत्मा की ही अनुभूति, सो सम्यग्दर्शन है। 'अनुभूति' तो यद्यपि ज्ञान की स्वसन्मुख पर्याय है, किन्तु उस अनुभूति के साथ सम्यग्दर्शन नियम से होता है, इसलिए यहाँ अनुभूति को ही सम्यग्दर्शन कह दिया है।

व्यवहार में नवतत्त्व थे, उनके लक्षण जीव, अजीवादि नव थे, और इस शुद्धनय के विषय में एकरूप आत्मा ही है, उसमें नव की प्रसिद्धि नहीं है, किन्तु चैतन्य का एकत्व ही प्रसिद्ध है। ऐसे शुद्ध आत्मा की अनुभूति का लक्षण आत्मख्याति है-आत्मा की प्रसिद्धि है। जीव-अजीव के निमित्त-नैमित्तिक संबंध को लक्ष में लेकर देखने से नवतत्त्व हैं अवश्य, उन्हें व्यवहारनय स्थापित करता है, किन्तु भूतार्थनय (शुद्धनय) तो एक अभेद आत्मा की ही स्थापना करता है। जीव-अजीव के निमित्त-नैमित्तिक संबंध को भी वह स्वीकार नहीं करता। आत्मा त्रिकाल एकरूप सिद्ध

जैसी मूर्ति है, ऐसे आत्मा की श्रद्धा करना, वह परमार्थ सम्यग्दर्शन है, उसमें भगवान आत्मा की प्रसिद्धि होती है।

देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करने में आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती, इसलिए देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा वास्तव में सम्यग्दर्शन नहीं है। अभी सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की भी जिसे पहिचान नहीं है, नवतत्त्व की श्रद्धा की भी खबर नहीं है, उसे तो व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है, उसकी तो यहाँ बात नहीं है। परन्तु कोई जीव नवतत्त्वों को जानने में ही रुक जाये और नव का लक्ष छोड़कर एक आत्मा की ओर उन्मुख न हो तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। नवतत्त्व की श्रद्धा बीच में आती है, उसे व्यवहारश्रद्धा कब कहा जाता है ? - यदि नव के विकल्प का आश्रय छोड़कर भूतार्थ के आश्रय से आत्मा की ख्याति करे - आत्मा की प्रसिद्धि करे - आत्मा की अनुभूति करे तो नवतत्त्व की श्रद्धा को व्यवहारश्रद्धा कहा जाता है। अभेद आत्मा की श्रद्धा करके परमार्थश्रद्धा प्रगट करे तो नवतत्त्व की श्रद्धा को व्यवहारश्रद्धा का उपचार आता है, नहीं तो निश्चय के बिना व्यवहार किसका ? निश्चय के बिना व्यवहार तो व्यवहाराभास है।

श्री आचार्यदेव ने इस टीका का नाम 'आत्मख्याति' रखा है। आत्मख्याति अर्थात् आत्मा की प्रसिद्धि। एकरूप शुद्ध आत्मा की प्रसिद्धि। एकरूप शुद्ध आत्मा की प्रसिद्धि करना इस टीका का मुख्य प्रयोजन है, नवतत्त्वों को बतलाने का मुख्य प्रयोजन नहीं है। इस ग्रंथ में नवतत्त्वों का वर्णन आयेगा अवश्य, किन्तु उसमें मुख्यता तो एकरूप शुद्ध आत्मा की ही बतलाना है। इसप्रकार आचार्यदेव के कथन में शुद्ध आत्मा की मुख्यता है, इसलिए श्रोताओं को भी अंतर में एकरूप शुद्ध आत्मा को लक्ष में लेने की मुख्यता रखकर श्रवण करना चाहिए। बीच में विकल्प और भेद का वर्णन आये, उसकी मुख्यता करके न रुककर शुद्ध आत्मा को ही मुख्य करके लक्ष में लेना चाहिए। नवतत्त्वों को जानने का प्रयोजन तो आत्मोन्मुख होना ही है।

नवतत्त्व में जीव को वास्तव में कब माना कहा जाता है ? नवतत्त्व के भेद की उन्मुखता छोड़कर एकरूप जीवस्वभाव की ओर उन्मुख हो तो जीव को माना कहा जाता है। ? आस्रव-बंधतत्त्व को कब माना कहा जाता है ? उनके अभावरूप आत्मस्वभाव को माने तो आस्रव-बंध को माना कहा जाता है। संवर-निर्जरा-मोक्षतत्त्व को कब माना कहा जाता है ? स्वभावोन्मुख होकर अंशतः संवर-निर्जरा प्रगट करे तो संवरादि को माना कहा जाता है। इसप्रकार नवतत्त्वों को

जानकर यदि अभेद आत्मा की ओर उन्मुख हो, तभी नवतत्त्वों को वास्तव में जाना कहा जाता है, यदि अभेद आत्मा की ओर उन्मुख न हो और नवतत्त्वों के विकल्प में ही रुक जाये तो नवतत्त्वों को यथार्थरूप से जाना नहीं कहलाता।

नवतत्त्व की श्रद्धा भी अभेद आत्मा के अनुभव में काम नहीं आती, प्रथम नवतत्त्व संबंधी विकल्प होता है, किन्तु अभेद आत्मा का अनुभव करने के विकल्प दूर हो जाता है। नवतत्त्वों का ज्ञान रह जाता है, किन्तु एकरूप आत्मा से अनुभव के समय नवतत्त्वों के विकल्प नहीं होते। ऐसा अनुभव प्रगट हो, तब चौथा गुणस्थान अर्थात् धर्म की प्रथम सीढी कहलाती है। इसके अतिरिक्त बाह्य क्रिया से या पुण्य से धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

यहाँ बाह्य क्रिया की तो बात नहीं है, अंतर में नवतत्त्वों के विचार भी अभेदस्वरूप के अंतर अनुभव में ढलने में कार्यकारी नहीं होते। अभेद आत्मा में ढलना, वह नवतत्त्वों को जानने का प्रयोजन है, इसलिए यदि विकल्प तोड़कर आत्मा में एकाग्र हो तो नवतत्त्वों को जाना कहा जाता है। बंधतत्त्व को जाना कब कहा जाता है ? उससे पृथक् हो तब। 'यह बंध है, यह बंध है' – ऐसा गोखता रहे, किन्तु यदि बंधन से मुक्त न हो तो यथार्थरूप से बंध को जाना नहीं कहा जाता। और नवतत्त्व को जाना कब कहा जाता है ? यदि नवतत्त्वों के सन्मुख ही देखता रहे तो नवतत्त्वों का यथार्थ ज्ञान न हो और आत्मा का ज्ञान भी न हो। जब आत्मस्वभाव की ओर ढले, तभी नवतत्त्वों का यथार्थ ज्ञान हुआ कहलाता है, क्योंकि आत्मोन्मुख हो, उस ज्ञान में ही स्व-पर को जानने का सामर्थ्य होता है। अजीव के सन्मुख देखते रहने से अजीव का सच्चा ज्ञान नहीं होता, किन्तु जीव और अजीव भिन्न हैं – ऐसा समझकर अभेद चैतन्यमूर्ति शुद्ध आत्मा की ओर ढलने से स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकसित होता है, वह ज्ञान अजीवादि को भी जानता है। ज्ञान तो आत्मा का है, ज्ञान कहीं नवतत्त्व के विकल्प का नहीं है, विकल्प से तो ज्ञान पृथक् है। ज्ञान तो आत्मा का होने पर भी वह ज्ञान यदि आत्मोन्मुख होकर आत्मा के साथ एकता न करे और राग के साथ एकता करे तो वह ज्ञान स्व-पर को यथार्थ नहीं जान सकता अर्थात् वह मिथ्याज्ञान है, अधर्म है। राग के आश्रय बिना ज्ञायक का अनुभव करना, उसे आत्मख्याति कहते हैं और वह सम्यग्दर्शन है, वहाँ से धर्म का प्रारम्भ होता है। यहाँ दृष्टि में परिपूर्ण आत्मा का स्वीकार हुआ है, तथापि उसके पश्चात् अभी वीतरागता करने का कार्य शेष रह जाता है।

चौथे गुणस्थान में सम्यक् आत्मभान होने से दृष्टि में पूर्ण स्वरूप आ गया, इसलिए श्रद्धा से तो कृतकृत्यता हो गई, किन्तु अभी आत्मा का केवलज्ञानरूप से विकास नहीं हुआ है, वीतरागता भी नहीं हुई है। मैं त्रिकाल चैतन्यस्वरूप जीवद्रव्य हूँ, अजीवतत्त्व मुझसे भिन्न हैं और अन्य जो सात तत्त्व हैं, वे क्षणिक हैं, इसप्रकार नवतत्त्व के भेद का विकल्प धर्मी को भी आता है, किन्तु धर्मी को उस विकल्प में एकताबुद्धि नहीं है, इसलिए विकल्प की मुख्यता नहीं है, किन्तु अभेद चैतन्य की ही मुख्यता है और आत्मा में एकाग्र होकर वीतराग होने से वैसे विकल्प होते ही नहीं।

देखो! यह आत्मकल्याण की अपूर्व बात है। 'यह बात किसी दूसरे के लिए नहीं है, किन्तु मेरे लिए ही हैं' – इसप्रकार यथार्थ पात्र होकर स्वयं अपने ऊपर न ले तो उस जीव को समझने की दरकार नहीं है और न उसे आत्मा की यह बात अन्तर में जमेगी। इसलिए आत्मार्थी जीवों को अन्तर में अपने आत्मा के साथ इस बात का मिलान करना चाहिए।

अहो ! इस सूत्र में भगवान कहते हैं कि – 'भूयत्थेण अभिगदा....' नवतत्त्वों को भूतार्थ से जानना सो सम्यग्दर्शन है। वास्तव में भूतार्थनय के विषय में नवतत्त्व हैं ही नहीं, नवतत्त्व तो अभूतार्थनय का विषय है। भूतार्थनय का विषय तो मात्र ज्ञायक आत्मा ही है। जो एक शुद्ध ज्ञायक की ओर ढला, उसे नवतत्त्वों का ज्ञान यथार्थ हो गया। एक चैतन्यतत्त्व को भूतार्थ जानने से सम्यग्दर्शन होता है। यह सम्यग्दर्शन का नियम कहा। नवतत्त्वों के विकल्प, वह नियम से सम्यग्दर्शन नहीं हैं।

अब, जो नवतत्त्व कहे, उनमें पर्यायरूप सात तत्त्वों रूप एक जीव और दूसरा अजीव – इन दोनों का स्वतंत्र परिणमन बतलाते हैं। जीव और अजीव तो त्रिकाली तत्त्व हैं, उसकी अवस्था में जीव की योग्यता और अजीव का निमित्तपना – ऐसे निमित्त-नैमित्तिक संबंध से पुण्य-पापादि सात तत्त्व होते हैं। वहाँ, विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला – यह दोनों पुण्य हैं और दोनों पाप हैं, उनमें एक जीव है और दूसरा अजीव है अर्थात् विकारी होने योग्य जीव है और विकार करनेवाला अजीव है। जीव के विकार में अजीव निमित्त है, इसलिए यहाँ अजीव को विकार करनेवाला कहा है – ऐसा समझना। जीव स्वयं विकारी होने योग्य है, कोई दूसरा उसे विकार कराता है, ऐसा नहीं है। जीव सर्वथा कूटस्थ या सर्वथा शुद्ध नहीं है, किन्तु पुण्य-पापरूप विकारी

होने की योग्यता उसकी अवस्था में है और योग्यता में अजीव निमित्त है। अजीव को विकार करनेवाला कहा, इसका अर्थ ऐसा समझना कि वह निमित्त है। जीव की योग्यता है और अजीव निमित्त है। जीव में अपनी योग्यता से ही निमित्त होता है, उस समय निमित्तरूप से अजीव को विकार करनेवाला कहा जाता है, किन्तु यदि जीव में विकार की योग्यता न हो तो अजीव कहीं उसे विकार नहीं कराता।

जीव की योग्यता से विकार होता है, वह जीव पुण्य-पाप है, और उसमें अजीव निमित्त है, वह अजीव पुण्य-पाप है; इसप्रकार जीव और अजीव दोनों का स्वतंत्र परिणमन है। इसप्रकार सातों तत्त्वों में एक जीव और दूसरा अजीव - ऐसे दो-दो प्रकार लेंगे। जीव और अजीव - यह दो तो स्वतंत्र त्रिकालीतत्त्व हैं और इन दोनों की अवस्था में सात तत्त्वरूप परिणमन किसप्रकार है, वह बतलाते हैं। यह सब तो नवतत्त्व की व्यवहारश्रद्धा में आता है। पुण्य और पाप जीव का त्रिकालीस्वभाव नहीं है किन्तु अवस्था की योग्यता है और उसमें अजीव निमित्त है। जीव में पुण्य-पाप होते हैं, वे यदि अजीव के निमित्त के बिना ही होते हैं तो वह जीव का स्वभाव ही हो जाये, और कभी दूर न हो। और यदि निमित्त के कारण वह विकार होता हो तो जीव की वर्तमान अवस्था की योग्यता स्वतंत्र न रहे और न जीव उस विकार को दूर कर सके। इसलिए यहाँ उपादान-निमित्त दोनों साथ ही बतलाते हैं।

जिस प्रकार कम-अधिक पानी के संयोगरूप निमित्त के बिना मात्र आटे में 'यह रोटी का आटा, यह पुड़ियों का आटा अथवा यह पपड़ी का आटा' - ऐसे भेद नहीं पड़ते, वहाँ आटे की वैसी योग्यता है और उसमें पानी का निमित्त भी है। उसीप्रकार चैतन्य भगवान आनंदमूर्ति एकरूप है, उसमें परसंयोग (कर्म) के निमित्त बिना मात्र अपने से ही पुण्य-पापादि सात भेद नहीं होते। उन सात तत्त्वों की योग्यता तो जीव में अपने में ही है, किन्तु उसमें अजीव का निमित्त भी है। अजीव की अपेक्षा बिना अकेले जीवतत्त्व में सात प्रकार नहीं पड़ सकते। जीव ने अपनी योग्यता से पुण्यपरिणाम किये, वह जीव पुण्य है और उसमें जो कर्म निमित्त है, वह अजीव पुण्य है। दोनों में अपनी-अपनी स्वतंत्र योग्यता है। अजीव में जो पुण्य हुए, वे जीव के कारण हुए - ऐसा नहीं है और जीव में जो पुण्यभाव हुए, वे अजीव के कारण हुए - ऐसा भी नहीं है। वर्तमान एक समय में दोनों साथ हैं, उसमें जीव की योग्यता और अजीव निमित्त - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

इन सर्वज्ञकथित नवतत्त्वों को समझे तो स्थूल विपरीत मान्यताएँ तो दूर हो जाती हैं। नवतत्त्वों को माननेवाला जीव ईश्वर को कर्ता नहीं मानता, वस्तु को सर्वथा कूटस्थ या सर्वथा क्षणिक नहीं मानता। नवतत्त्व को माने तो जीव का परिणमन भी माने, इसलिए जीव को कूटस्थ न मान सके और न अजीव को भी कूटस्थ मान सके। जगत में भिन्न-भिन्न अनेक जीव-अजीव द्रव्य माने, एक द्रव्य में अनेक गुण माने, उसका परिणमन माने और उसमें विकार माने, तभी नवतत्त्वों को मान सकता है। जो नवतत्त्वों को माने, वह ऐसा नहीं मान सकता कि जगत में एक कूटस्थ सर्वव्यापी ब्रह्म ही है। सम्यग्दर्शन प्रगट करने की तैयारी वाले जीव को प्रथम नवतत्त्व की श्रद्धारूप आंगन आता है।

यहाँ श्री आचार्यदेव ने सातों तत्त्वों में जीव की योग्यता की बात की है। जीव की वर्तमान योग्यता की योग्यता से ही पुण्य होता है। इसलिए 'इससमय ऐसा ही शुभभाव क्यों ?' - ऐसा प्रश्न नहीं रहता। पुण्य के असंख्य प्रकार हैं, उनमें भगवान के दर्शनों के समय अमुक प्रकार का शुभराग होता है, शास्त्र-श्रवण के समय अमुक प्रकार का शुभराग होता है और दया-दानादि में अमुक प्रकार का शुभराग होता है - ऐसा क्यों ? क्या निमित्त के कारण वैसे प्रकार पड़ते हैं ? तो कहते हैं कि नहीं, उस-उस समय की जीव की विकारी होने की योग्यता ही उस प्रकार की है। इतना स्वीकार करे, उसने तो अभी पर्यायदृष्टि से-व्यवहार से-अभूतार्थनय से जीव को तथा पुण्यादि तत्त्वों को स्वीकार किया जाता है। परमार्थ में तो यह नवतत्त्वों के विकल्प भी नहीं हैं।

मिथ्यात्व और हिंसादि भाव पापतत्त्व हैं। उसमें भी पापरूप होने योग्य और पाप करने वाला - यह दोनों जीव-अजीव हैं अर्थात् पापभाव हो, उसमें जीव की योग्यता है और अजीव निमित्त है। पुण्य और पाप दोनों विकार हैं, इसलिए 'विकारी होने की योग्यता' में ही पुण्य और पाप दोनों को ले लिया है। वे निमित्त के बिना नहीं होते और निमित्त के कारण नहीं होते। जीव की योग्यता होती है और अजीव निमित्त है। 'योग्यता' कहने से उसमें यह सब न्याय आ जाते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव विकार को अपना स्वरूप नहीं मानते, तथापि उनके विकार होता है। वहाँ, चारित्रमोहनीयकर्म के उदय के कारण सम्यग्दृष्टि को विकार होता है - ऐसा नहीं है, किन्तु उस भूमिका में विद्यमान जीव के परिणाम में ही पुण्य या पाप होने की उससमय की योग्यता है। उसमें

अजीव कर्म तो निमित्त है। मिथ्यात्व के पाप में मिथ्यात्वकर्म का उदय निमित्त है, किन्तु उस जीव को मिथ्यात्व का पाप हुआ, वहाँ उस जीव की पर्याय में ही वैसी योग्यता है – मिथ्यात्व कर्म के कारण मिथ्यात्व नहीं हुआ है, तथापि मिथ्यात्वादि भाव में अजीव कर्म निमित्त न हो – ऐसा भी नहीं होता। अकेले तत्त्व में पर की अपेक्षा बिना विकार नहीं होता। यदि अकेले तत्त्व में परलक्ष के बिना विकार हो, तब तो वह स्वभाव ही हो जायेगा।

यहाँ जीव को अपनी योग्यता में रागादि की वृद्धि होती है और घटते हैं, इसलिए पुण्य-पापादि की हीनाधिकता होती है तो उसके निमित्तरूप सामनेवाले अजीव में में भी हीनाधिकता मानना पड़ेगी। वह हीनाधिकता अनेक द्रव्य के बिना नहीं हो सकती, इसलिए पुद्गल में संयोग-वियोग, स्कंध आदि मानना पड़ेगा। जिसप्रकार यहाँ जीव के उपादान की योग्यता में अनेक प्रकार पड़ते हैं, उसीप्रकार सन्मुख निमित्तरूप अजीवकर्म में भी अनेकप्रकार पड़ते हैं। ऐसा होने पर भी कोई द्रव्य किसी द्रव्य का शत्रु तो है ही नहीं। अजीव कर्म शत्रु होकर जीव को बलात् विकार कराते हैं – ऐसा नहीं है, अजीव को विकार का कर्ता तो निमित्तरूप से कहा है।

यह गाथा अति उत्तम है, इसमें नव तत्त्वों को समझकर भूतार्थस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट करने की अद्भुत बात आचार्य भगवान ने की है। यह गाथा समझ कर अंतर में मनन करने योग्य है।

शुद्ध चैतन्य की उपासना का उपाय

साम्यभाव

श्री सर्वज्ञ भगवान ने सारे जगत में आत्मा की उपासना का क्या उपाय देखा है ? वह आचार्यदेव कहते हैं –

सर्वविद्धिसंसारैः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः।
एतस्योपासनोपायः साम्यमेकमुदाहृतम् ॥63॥

आत्मस्वभाव को पहिचान कर उसके ध्यान में एकाग्रता प्रगट हो, उसका नाम साम्य है। यह साम्य ही आत्मा की उपासना का उपाय है। सारे जगत में आत्मा की शांति का यही उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं है। – ऐसा किसने कहा ? केवलज्ञानरूपी दिव्य नेत्रों द्वारा समस्त पदार्थों को जाननेवाले तथा संसार रहित ऐसे सर्वज्ञभगवान ने एक साम्यभाव को ही शुद्धात्मा की उपासना का उपाय कहा है। आत्मा का भान करके उसमें स्थिर होने से जिसके राग-द्वेष-अज्ञान बिलकुल नष्ट हो गये हैं – ऐसे सर्वज्ञ भगवन्तों ने ज्ञानचक्षु द्वारा चौदह ब्रह्माण्ड के भावों को प्रत्यक्ष देखा, उनमें आत्मा की शांति का यह एक ही उपाय देखा है कि साम्यभाव आत्मा की शांति है। प्रथम आत्मा की सम्यक्श्रद्धा करना भी साम्यभाव है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – यह तीनों साम्यभाव हैं और वही शुद्ध आत्मा की उपासना का उपाय है।

जो स्वयं असंसारी—मुक्त हुए हैं, उन्होंने ऐसा ही उपाय अपने सर्वज्ञज्ञान में देखा है कि हे जीव ! तुझे यह समता ही शांति का उपाय है। किन्तु समताभाव किसे कहा जाये ? लोग सामान्य मंदकषाय को समता कहते हैं, किन्तु वह वास्तव में समता नहीं, किन्तु विषमता है। ज्ञानमूर्ति आत्मस्वभाव का भान होने से, पुण्य अच्छा और पाप बुरा – ऐसी पुण्य-पाप में विषमता की दृष्टि दूर होकर साम्यभाव प्रगट हो, उसका नाम समता है। समताभाव कहो या ज्ञायकभाव कहो, वही चैतन्य की शांति का मार्ग है। सर्वज्ञदेव ने ज्ञान में चौदह ब्रह्माण्ड के मार्ग देखे, उनमें शांति का मार्ग एक साम्य ही है – ऐसा देखा है।

सच्चा समभाव किसके होता है ? लक्ष्मी, शरीर आदि परवस्तुएँ मेरी हैं, और मैं उनमें फेरफार कर सकता हूँ, ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे अनुकूलता-प्रतिकूलता में समभाव नहीं रह सकता। लक्ष्मी हो या निर्धनता हो, वे दोनों मेरा स्वरूप नहीं हैं, मैं उन दोनों का ज्ञाता हूँ - ऐसा जिसने भान किया है, उसने उन दोनों में चैतन्य के लक्ष से समता की प्रतीति की है। समता का अर्थ ही ज्ञातापना है। मेरा आत्मा ज्ञाता है, किसी संयोग में फेरफार करने की मेरी शक्ति नहीं है और राग-द्वेष मेरा स्वरूप नहीं है। वस्तु में जो होता है, उसका मैं ज्ञाता ही हूँ - ऐसी ज्ञान स्वभाव की प्रतीति प्रगट हुए बिना किसी को साम्यभाव नहीं होता। शरीर में निरोगता हो या रोग हो, शत्रु हो या मित्र हो, शुभ हो या अशुभ हो तथा जीवन हो या मरण आये, उन सबमें मैं तो ज्ञाता ही हूँ, एक इष्ट और दूसरा अनिष्ट, ऐसा मेरा ज्ञान में नहीं है - ऐसी जिसे प्रतीति हुई है, उसे उन सब में समता ही है। अस्थिरता के अनुरूप राग-द्वेष हों, तथापि श्रद्धा-ज्ञान में साम्यभाव दूर नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान जैसा ही मेरा ज्ञानस्वभाव है, जगत की समस्त वस्तुओं का मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ज्ञाता-दृष्टा चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त जगत में कोई वस्तु मेरी नहीं है, इसप्रकार जिसे चैतन्य की चिंता जागृत हुई है और चैतन्य के लक्ष से ज्ञातारूप रहकर सर्व को जानता रहता है, उसे सच्ची समता है, वही धर्म है और वही आत्मा की मुक्ति का उपाय है। इसके अतिरिक्त किसी परपदार्थ में न्यूनाधिकता करना माने तो समताभाव नहीं रह सकता, क्योंकि मैं पर में न्यूनाधिकता कर सकता हूँ - ऐसा जिसने माना है, उसे अपनी इच्छानुसार पर में होगा तो वहाँ मिथ्यात्वपूर्वक का राग और इच्छानुसार नहीं होगा, वहाँ मिथ्यात्वपूर्वक का द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा।

यहाँ श्री आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञभगवान ने एक साम्यभाव को ही आत्मा की उपासना का मार्ग कहा है। देव-गुरु की सेवा करना, सो आत्मा की उपासना का मार्ग है - ऐसा नहीं कहा। पात्र जीव को सच्चे देव-गुरु की सेवा का शुभभाव भले हो, परन्तु उसका लक्ष्य यदि आत्मा की उपासना का न हो और वह देव-गुरु की सेवा के राग में ही धर्म मानकर रुक जाये तो भगवान उसे शांति का मार्ग नहीं कहते, चैतन्य की उपासना राग द्वारा नहीं होती। चैतन्य स्वभाव की सेवा का-उपासना का मार्ग स्वभाव ही है।

प्रथम शुद्ध आत्मा को पहिचान कर सम्यग्दर्शन प्रगट करना भी साम्यभाव है। मैं जगत का साक्षी-ज्ञाता हूँ, सारा जगत डिग जाये किन्तु अपने ज्ञातापने की प्रतीति न डिगे - ऐसा सम्यग्दृष्टि

का साम्यभाव है और तत्पश्चात् स्वरूप में विशेष स्थिरता होने से ज्ञाताभाव और वीतरागभाव की वृद्धि हो जाने से राग-द्वेष भी न हो - वह चारित्र दशा का साम्यभाव है।

'जीवित के मरणे नहि न्यूनाधिकता
भवमोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो...'

इसमें तो चारित्रदशा के उत्कृष्ट समताभाव की बात है। आत्मा के अनुभव में लीनता होने से ऐसा ज्ञाताभाव प्रगट होता है कि प्रतिष्ठा अच्छी और अप्रतिष्ठा बुरी, जीवन रहे तो ठीक और मरण बुरा, भव बुरा और मोक्ष हो तो अच्छा - ऐसा विकल्प भी नहीं उठता। ऐसा साम्यभाव आत्मा की उपासना का और मोक्ष का उपाय है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। किन्तु ऐसी समता कब आती है ? पहले नित्यानंद आत्मा को जाना हो तो उसमें एकाग्रता से जीवन-मरण आदि में समताभाव रहे। पर से भिन्न आत्मा के ज्ञानस्वभाव को जिसने जाना, उसे ज्ञान का समताभाव प्रगट हुए बिना नहीं रहेगा। यह समताभाव ही आत्मा की शांति का एकमात्र उपाय है।

- पद्मनंदिपंचविंशतिका, एकत्व अधिकार, गाथ 63 पर प्रवचन पूज्य स्वामीजी प्रवचन

तीर्थंकरों के कुल की टेक

(दीक्षाकल्याणक के प्रवचन से)

अनंत तीर्थंकरों ने जिस मार्ग पर विचरण किया, उसका मैं पथिक होता हूँ, मेरे पुरुषार्थ में बीच में भंग नहीं पड़ सकता, मैं अप्रतिहत पुरुषार्थवाला हूँ। भगवान शांतिनाथ कहते हैं कि अब हम अपने आत्मस्वभाव में ढलते हैं...निर्विकल्प स्वभाव के गीत गाने के लिए और उसे प्रगट करने के लिए हम तैयार हुए हैं...अब अपने स्वरूप में स्थित होने का सुअवसर आया है। अंतर के आनंदकंद स्वभाव की श्रद्धासहित उसमें रमणता करने के लिए जागृत हुए, उस भाव में अब भंग नहीं पड़ेगा...जो भाव हमें जागृत हुआ, उसे हम पीछे नहीं रहने देंगे...अखण्डानन्द स्वभाव की भावना के अतिरिक्त पुण्य-पाप की भावना का भाव अब हमें कभी नहीं आयेगा। दीक्षा के लिए तैयार हुए श्री शांतिनाथ भगवान ऐसी भावना भाते थे।

अनादि प्रवाह में हमारे जैसे अनंत तीर्थंकर हुए, उनके कुल की जाति का मैं हूँ। क्षत्रिय आदि जो कुल हैं, वे वास्तव में आत्मा के कुल नहीं हैं। तीर्थंकरों ने आत्मा के चैतन्यकुल में अवतार लिया, वही उनका सच्चा कुल है। अहो ! एक चिदानन्दी भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी भाव को मन मंदिर में नहीं आने दूँगा, एक चैतन्यदेव को ही ध्येयरूप बनाकर उसके ध्यान की लीनता से आनंदकंद स्वभाव की रमणता में मैं कब पूर्ण होऊँ ? मात्र चैतन्यस्वभाव का ही आश्रय करके केवलज्ञान प्रगट करना हमारे (तीर्थंकरों के) कुल की टेक है। तीर्थंकर उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त करके रहते हैं। अनंत तीर्थंकर आत्मा का चारित्र पूर्ण करके उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त हुए। अनंत तीर्थंकर जिस पथ पर विचरे, उसी पथ का पथिक मैं भी हूँ। मैं चिदानंद नित्य हूँ और सारा संसार अनित्य है। मेरा आनंदकंद चिदानंद स्वभाव ही मुझे शरणभूत है, जगत में अन्य कोई शरणभूत नहीं है - ऐसी वैराग्य भावना भाकर भगवान ने दीक्षा ली थी। अहो ! अब तीर्थंकर दीक्षा लेते होंगे, वह काल कैसा होगा ? वह प्रसंग कैसा होगा ? जीव को आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भावना भी अनंतकाल में दुर्लभ है।

भोगी नहीं किन्तु योगी
धन्य....वह...अवतार

(दीक्षाकल्याणक के प्रवचन से)

भगवान जब गृहस्थरूप में हजारों रानियों के साथ में थे, उस समय भी उनमें कहीं सुखबुद्धि नहीं थी, इसलिए अंतर में सबसे उदास-उदास थे। रानियों को भी पूर्ण विश्वास हो गया था कि यह भोगी नहीं है किन्तु संसार में विद्यमान योगी है, हमारे ऊपर का राग क्षण में तोड़कर जब चाहे निकल पड़ेगा। उसकी रुचि का बल स्वभाव में है, हम में कहीं भी उसकी रुचि नहीं है, हमारे कारण उसे राग नहीं होता, निमित्त के कारण राग हो, ऐसा वह नहीं मानता, पर्याय की निर्बलता से राग होता है, किन्तु भोग रहित अतीन्द्रिय स्वभाव के आनंद का भोग करने की भावना वह बारम्बार करता है, इसलिए स्वभाव की सबलता से राग को तोड़कर यह सब छोड़कर चह चला जायेगा।

भगवान भी अंतर में भावना करते थे कि –

रजकण के ऋद्धि वैमानिक देवनी....
सर्वे मान्यता पुद्गल एक स्वभाव जो....

मैं असंयोगी चैतन्यमूर्ति हूँ, एक परमाणु से लेकर छह खण्ड की ऋद्धि वह सब अचेतन का स्वभाव है। मेरे चैतन्यस्वभाव में वे कोई तीनकाल-तीनलोक में नहीं हैं – ऐसा भिन्नत्व का भान तो था। जिसे भिन्नत्व का भान न हो, उसे तो पर से भिन्न चैतन्य की भावना भी कहाँ से हो ? भगवान को भिन्नता का भान होने पर भी राग के कारण परोन्मुखता होती थी, उस परोन्मुखता को हटाकर चैतन्य में लीन होने के लिए भगवान भावना करते हैं –

अपूर्व अवसर अेवो क्यारे आवशे...
क्यारे थईशुं बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो....
सर्व सम्बन्धनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने...
विचरशुं कब महत्पुरुषने पंथ जो...

ऐसी भावना कौन करता है ? – चक्रवर्ती राज्य में विद्यमान भगवान शांतिनाथ ऐसी भावना

करते हैं। संसार में रहते हुए भी वे सम्यग्दृष्टि और मति-श्रुत-अवधि - इन तीन ज्ञान सहित थे। दर्पण में दो प्रतिबिम्ब देखकर उन्हें जातिस्मरणज्ञान हुआ। पूर्वभवों का स्मरण होने से उन्हें वैराग्य जागृत हुआ और ऐसी भावना भाने लगे कि अहो ! इससे पूर्व के भव में सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्रदेव था और उससे पूर्व के भव में मुनि था, उस समय मेरी अनुभवदशा अपूर्ण रही और राग शेष रहा, इसलिए यह अवतार हुआ। अब उस राग को छेदकर इस भव में अपनी मुक्तिदशा प्रगट करनेवाला हूँ, सांसारिक भोगों के हेतु से मेरा अवतार नहीं है, किन्तु आत्मा को मुक्ति के हेतु से मेरा अवतार है...मैं भगवान होने के लिए अवतरित हुआ हूँ....इस संसार, शरीर और भोगों से उदासीन होकर असंसारी, अशरीरी और अयोगी - ऐसे अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव में लीन होकर, वन-जंगल में झूलने के लिए मेरा अवतार है। - इसप्रकार भगवान संसार से विरक्त होकर आत्मा के आनंद की ओर ढले।

'अहो ! धन्य वह अवतार !....'

संसार की स्थिति और धर्मात्मा की निःशंकता

(दीक्षा कल्याणक के प्रवचन से)

इस संसार में अज्ञानरूप से परिभ्रमण करते हुए पूर्वभव की माता का स्त्रीरूप से तूने अनंतबार उपभोग किया, अरे जीव ! स्वर्ग-नरक के और कौए-कुत्ते के अनंत भव तूने किए हैं। उनमें एक भव में तेरी माता थी, वही दूसरे भव में तेरी स्त्री हुई; एक भव में जो तेरी स्त्री थी, वही दूसरे भव में तेरी माता हुई; एक भव में जो तेरा बंधु था, वही दूसरे भव में तेरा शत्रु हुआ...अहो ! धिक्कार है ऐसे संसार को...ऐसा संसार अब हमें स्वप्न में भी नहीं चाहिए...इस संसार भाव को धिक्कार है कि जिसमें, जिसके पेट में नव महीने रहकर मातारूप से स्वीकार किया हो, उसी को

दूसरे भव में स्त्रीरूप से भोगना पड़े...अरे! यह संसार....! अनंत काल तक आत्मा के भान बिना....अब हम इस संसार मे पुनः अवतार नहीं लेंगे। हम आत्मा के भानसहित तो अवतरित हुए ही हैं, और अब इसी भव में मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं...अब पुनः इस संसार में नवीन देह धारण नहीं करेंगे....।

देखो तो ! यह है धर्मात्मा की निःशंकता ! भगवान शांतिनाथस्वामी कहते हैं कि इस संसार के राग को छोड़कर आज हम अपने चारित्रधर्म को अंगीकार करेंगे और इसी भव में पूर्ण परमात्मा होंगे...अब हम दूसरा भव धारण नहीं करेंगे। जीव ने अनंत संसार में परिभ्रमण करते हुए जिसे प्राप्त नहीं कर पाया – ऐसी एक मुक्तिदशा ही है, उसे हम प्राप्त करेंगे।

देखो, अंतर में चैतन्यस्वभाव के बलपूर्वक की यह भावना है। सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य किसी को तो तीर्थंकर भगवान की कैसी भावना थी, उसका स्वरूप समझना भी कठिन है, उसे सच्ची भावना कहाँ से होगी ? चैतन्यस्वरूप की ओर की उन्मुखता के बल में शांतिनाथ भगवान भव, तन और भोग से उदास-उदास हो गये हैं, श्मशान जाने की तैयारी में पड़े हुए मुर्दे की शोभा की भांति उदास हैं अर्थात् जिसप्रकार कोई श्मशान की तैयारी वाले मुर्दे का हार-फूलों से शृंगार करें तो उससे कहीं मुर्दा प्रसन्न नहीं होता, क्योंकि मोह करने वाला भीतर से चला गया है। उसीप्रकार भगवान आत्मा सारे संसार से उदासीन हो गया है, क्योंकि भीतर का मोह मर गया है। अपने चैतन्य के आनंद के निकट यह पुण्य-पाप या शरीर भोग आदि हमें अच्छे नहीं लगते, जागृत चैतन्य की सत्ता के निकट तो यह सब मुर्दे के समान मालूम होते हैं – ऐसे भानसहित भगवान चारित्रदशा अंगीकार करते हैं।

जिनेश्वर के लघुनंदन की श्रद्धा कैसी होती है?

मैं शुद्ध चैतन्य कारणपरमात्मा हूँ, उसी में से तेरी पूर्ण निर्मल कार्यपरमात्मदशा प्रगट होना है। ऐसा मैं शुद्ध चिदानंद ज्ञानमूर्ति हूँ, यही मेरी निर्मलदशारूपी कार्य का कारण है, इसके अतिरिक्त कोई शुभभाव या निमित्तादि परपदार्थ मेरी निर्मलदशा का कारण नहीं है। क्षणिक शुभ-अशुभभाव होते हों, तथापि ऐसे स्वभाव का निर्णय करना चाहिए। स्वभाव के निर्णय का बल विकार को तोड़ डालता है। निचली साधकदशा में भक्ति-प्रभावनादि के भाव हों, व्रतादि भाव हों, किन्तु साधक जीव उस शुभराग को धर्म का कारण नहीं मानते। साधक की श्रद्धा में ध्रुव चैतन्यस्वभाव आया है, उसका कभी विस्मरण नहीं होता। मुनि को छठवें गुणस्थान में महाव्रत आदि के शुभभाव आयें किन्तु वह धर्म नहीं है; ध्रुव चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता ही धर्म है। मुनिओं को सहज वस्त्ररहित निर्ग्रन्थ निर्दोष दशा होती है और अंतर में निज परम शुद्ध आत्मा को ही श्रद्धा-ज्ञान में लेकर उसका चिंतवन करते हैं। चौथे गुणस्थानवाले, धर्मी को भी किसी भी समय श्रद्धा में से परम शुद्ध आत्मा का ध्यान नहीं हटता; श्रद्धा द्वारा वह सदैव—पर्याय-पर्याय में परम शुद्ध आत्मा का ही चिंतवन करता है। इसलिए वह 'विशुद्ध आत्मा' हुआ है। ऐसा विशुद्ध आत्मपना चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है; उसे 'जिनेश्वर का लघुनंदन' कहा जाता है।

(लाठी : पंचकल्याणक प्रवचनों से)

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये जिज्ञासु निम्नलिखित पुस्तकों की स्वाध्याय अवश्य करें!

समयसार -प्रवचन (भाग-1)	6-0-0
समयसार -प्रवचन (भाग-2)	5-0-0
मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें	1-6-0
दशलक्षण-धर्म	0-12-0
सम्यग्दर्शन	2-8-0
भेदविज्ञानसार	2-0-0
मूल में भूल	0-12-0
मुक्ति का मार्ग	0-10-0
आत्मधर्म की फाइलें	3-12-0

उपरोक्त पुस्तकों में 'सम्यग्दर्शन' नाम की पुस्तक अभी प्रगट हुई है, जो प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य पढ़ने योग्य है।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

प्राप्तिस्थान —

श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)